विभावतः सुदूराणां, सन्ततिर्जयतात् तराम्।
द्यामेत्य पुनरागत्य, स्वानुभूतेः शिवं व्रजेत।।१।।

साधुता सा पदं द्योत, भूपतौ च जने–जने।
गवि सर्वत्र शान्तिः स्यात्, मदीया भावना सदा।।२।।

रेपवृत्तिं परित्यज्य, ना नवनीत मार्दवम्।
णलाभायं भजेद् भव्यो, भक्त्या साकं भृशं सदा।।३।।

विद्याब्धिना सुशिष्येण, ज्ञानोदधेरलङ्कृतम्।
रसेनाध्यात्मपूर्णेन, शतकं शिवदं शुभम्।।४।।

चित्ताकर्षि तथापि ज्ञैः, पठनीयं विशोध्य तैः।
तं मन्ये पण्डितं योऽत्रं, गुणान्वेषी भवेद् भवे।।५।।

क–गुप्ति–खोपयोगेऽदः, संवत्सरे च विक्रमे।
वैशाखपूर्णिमामीत्वेतीमामितिमिति गतम्।।६।।

मंगल कामना

यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोर।
हरी भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर।।१।।

विषय कषाय तजो भजो, जरा निर्जरा धार।
ध्याओ निज को तो मिले, अजरामर पद सार।।२।।

सागर वो कचना तजे, समझ उसे निस्सार।
गलती करता क्यों भला, तू अघ को उर धार।।३।।

रवि सम पर उपकार में, रहो विलीन सदैव।
विश्व शान्ति वरना नहीं, यों कहते निजदेव।।४

रग–रग से करुणा झरे दुखीजनों को देख।
चिर रिपु लख ना नयन में, चिता रुधिर की रेखा।।५।।

तन–मन–धन से तुम सभी, पर का दुःख निवार।
शम–दम–यम युत हो सदा, निज में करो विहार।।६।।

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीर्ष।।७।।

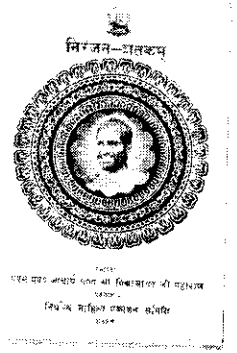

निरंजन - शतकम्

सविनयं ह्यभिनम्य निरंजनम्, नतिमितं नृसुरैर्मुनिरंजनम्।
भवलयाय करोमि समासतः, स्तुतिमिमां च मुदात्र समा सतः।।

अत्र मुनिरंजनम् नृसुरैः नतिम् इतम् निरंजनम् सविनयम् हि (अहं) अभिनम्य मुदा सामा सतः (निरंजनस्य) इमां स्तुतिम् च समासतः भवलयाय करोमि।

सन्तों नमस्कृत सुरों बुध मानवों से,
ये हैं जिनेश्वर नमूं मन वाक्तनों से।
पश्चात् करूँ स्तुति निरंजन की निराली,
मेरा प्रयोजन यही कि मिटे भवाली।।१।।

अर्थ– इस जगत् में (मैं विद्यासागर) मनुष्यों और देवों के द्वारा स्तुत तथा मुनियों को प्रमुदित करने वाले, कर्मकालिमा से रहित सिद्ध परमात्मा को विनयपूर्वक नमस्कार कर अपना संसार–परिभ्रमण नष्ट करने के लिए हर्ष सहित उन निरञ्जन – जिनेश्वर अथवा सिद्ध परमेष्ठी की संक्षेप से इस स्तुति को करता हूं।।१।।

निजरुचा स्फुरते भवतेऽयते, गुणगणं गणनातिगकं यते!
विदितविश्व ! विदा विजितायते ! ननु नमस्तत एष जिनायते।।

विदितविश्व ! विदा विजितायते ! यते ! निजरुचा स्फुरते गणनातिगकं गुणगणं
अयते ननु नमः ततः एषः (अहम् स्तुतिकर्त्ता विद्यासागरः) जिनायते।।

स्वामी ! अनन्त-गुण-धाम बने हुए हो,
शोभायमान निज की द्युति से हुए हो।
मृत्युंजयी सकल-विज्ञ विभावनाशी,
वदूँ तुम्हें, जिन बनूँ सकलावभाशी(षी)।।२।।

अर्थ – जिन्होंने समस्त पदार्थों को जान लिया है, जिन्होंने ज्ञान के द्वारा अपने भविष्य को विजित किया है तथा जो महामुनीन्द्र हैं, ऐसे हे जिनेन्द्र ! अपरिमित गुण समूह को प्राप्त करने वाले आपके लिये मेरा निश्चय से नमस्कार है। इस नमस्कार से मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं जिन के समान हो गया हूँ आपके स्तवन से मैं जिन बनूँगा, इसमें संशय नहीं है।।२।।

परपदं ह्यपदं विपदास्पदं, निजपदं नि पदं च निरापदम्।
इति जगाद जनाब्जरविर्भवान्, ह्यनुभवन् स्वभवान् भववैभवान्।।

विपदास्पदम् अपदम् हि परपदम्। निरापदम् निजपदम् नि (निश्चयेन) पदम् च।
इति स्वभवान् भववैभवान् हि अनुभवन् जनाब्जरविःभवान् जगाद।

सच्चा निजी पद निरापद सम्पदा है,
तो दूसरा पद घृणास्पद आपदा है।
हे ! भव्यकंजरवि ! यों तुमने बताया,
शुद्धात्म से प्रभव वैभवभाव पाया।।३।।

अर्थ – निश्चयतः आत्मस्वभाव से भिन्न – अन्यपद विपदाओं के स्थान है, अतएव अपद– अरक्षक है और आत्मस्वभावरूप निजपद विपदाओं से रहित तथा आत्मरमण का स्थान है। परमार्थ से स्वोत्पन्न सांसारिक वैभवों का अनुभव करते तथा जनरूपी कमलों को विकसित – प्रफुल्लित करने के लिये सूर्यस्वरूप आपने, ऐसा स्पष्ट कहा है।।३।।

पदयुगं शिवदं नु शमीह ते, श्रयतु चेत्स्वपदं स समीहते।
अधनिनो धनिनं हि धनाप्यते, किमु भजंति न लब्धधनाप्त ! ये।।

हे लब्धधन ! आप्त ! चेत् शमी स्वपदम् समीहते (तर्हि) न नु ते शिवदम् पदयुगं श्रयतु।
इह (जगति) ये अधनिनः धनाप्यते किमु धनिनम् न भजन्ति? (भजन्त्येवेति)।

जो चाहता शिव सुखास्पद सम्पदा है,
वो पूजता तव पदाम्बुज सर्वदा है।
पाना जिसे कि धन है अयि 'वीर' देवा !
क्या निर्धनी धनिक की करता न सेवा?।।४।।

अर्थ – हे आत्मधन को प्राप्त करने वाले अरहन्तदेव ! इस जगत् में यदि शान्त स्वभाव वाला जन सुखस्वरूप स्वपद शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहता है तो वह मोक्षदायक अथवा कल्याणप्रदाता आपके चरणयुगल की सेवा करे। क्योंकि इस जगत् में जो निर्धन मनुष्य हैं, वे धन प्राप्ति के लिये क्या धनिकपुरुष की सेवा नहीं करते? अर्थात् अवश्य करते हैं।।४।।

यदसि सत्यशिवोऽसि सदा हितः, तव मदो महसा हि स दाहितः।
गतगतिः सगतिर्गतसंमतिः, मम मतेः सुगतिर्भुवि सन्मतिः।।

हे विभो ! तव महसा हि स मदः दाहितः यत् सत्यशिवः असि। (अतः) भुवि सदा हितः असि।
गतगतिः सगतिः गतसंमतिः सन्मतिः (अपि असि) (ततः) मम मतेः सुगतिः (त्वमेव असि)।

सत् तेज से मदन को तुमने जलाया,
अन्वर्थ नाम फलरूप "महेश" पाया।
नीराग हो अमति सन्मति विज्ञ प्यारे,
स्वामी मदीय मन को तुम ही सहारे।।५।।

अर्थ – यतश्च आपके तेज के द्वारा वह मद–गर्व अथवा मदन दग्धकर दिया गया। अतः तुम्हीं सत्यशिवरूप हो और तुम्हीं सदा हितरूप हो यतश्च आप गतगति चतुर्गति रूप परिभ्रमण से रहित हो, सगति – मोक्षरूप गति से सहित और गतसंमति समीचीन मति से रहित हैं।।५।।

नयनयुग्मनिभेन नयद्वयम्, समयनिश्चयहेतु न ! यद्वयम्।
कलयतीति तदाशयवेदका, निजमयाम इव व्यपवेदकाः।।

हे न ! (तव) नयद्वयम् नयनयुग्म निभेन समय निश्चय हेतु इति कलयति !
यत् वयम् तात् आशयवेदकाः निजम् व्यपवेदकाः इव अयामः।

हे ! देव दो नयन के मिस से तुम्हारे,
हैं वस्तु को समझने नय मुख्य प्यारे।
यों जान, मान, हम लें उनका सहारा,
पावें अवश्य भवसागर का किनारा।।६।।

अर्थ – हे जिनेन्द्र ! आपके निश्चय व्यवहारनयों का युगल, नेत्रयुगल के समान समग्र–आगम अथवा द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ के निश्चय का कारण है, ऐसा जान उसके अभिप्राय को जानते हुये हम वेदरहित पुरुष–अखण्डब्रह्मचारी के समान स्वकीय स्वभाव को प्राप्त होते हैं।।६।।

अधिपतौ निजचिद्विमलक्षितेः, व्यय-भव-ध्रुव-लक्षण-लक्षिते।
मयि निरामयकः सहसा गरेऽवतरतीव शशी किल सागरे।।

निजचिद् विमलक्षितेः अधिपतौ व्ययभवध्रुव लक्षणलक्षितो मयि गरे निरामयकः
भवान् किल सहसा सागरे शशी इव अवतरति !

उत्पाद धौव्य व्यय भाव सुधारता हूँ,
चैतन्यरूप वसुधातल पालता हूँ।
पाते प्रवेश मुझमें तुम हो इसी से,
स्वामी ! यहाँ अमित सागर में शशी से ।।७।।

अर्थ – जो स्वकीय चेतनारूपी निर्मलभूमि का स्वामी है तथा उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप लक्षण से सहित है ऐसे मुझमें, विष के बीच नीरोग रहने वाले आप समुद्र में चन्द्रमा के समान सहसा अवतीर्ण हुए हैं।।७।।

स्तुतिरियं तव येन विधीयते, तमुभयावयतो न विधी यते !।
गजगणोऽपि गुरुर्गजवैरिणम्, नखबलैः किमटेद् विभवैरिनम्।।

हे यते ! येन (धीमता मुनिना) तव इयम् स्तुतिः विधीयते तं उभयौ विधी (द्रव्यभावमयौ) न अयतः
नखबलैः विभवैः इनम् गजवैरिणम् गुरुः गजगणः अपि किम् अटेत्? (नकदापि इति)।

जो आपमें निरत है सुख लाभ लेने,
आते न पास उसके विधि कष्ट देने।
क्या सिंह के निकट भी गज झुण्ड जाता ?
जाके उसे भय दिखाकर क्या सताता ?।।८।।

अर्थ – हे यतीन्द्र ! जिस बुद्धिमान् के द्वारा आपकी यह स्तुति की जाती है, उसके पास दोनों प्रकार के कर्म नहीं जाते है। क्या हाथियों का समूह स्थूल होने पर भी अपने नखबल के वैभव से वनराज सिंह के सामने जाता है ? अर्थात् नहीं जाता।।८।।

निगदितुं महिमा ननु पार्यते, सुगत ! केन मनो ! मुनिपार्य ! ते।
वदति विश्वनुता भुवि शारदा, गणधरा अपि तत्र विशारदाः।।

हे आर्य ! मुनिप ! मनो ! ते महिमा ननु केन निगदितुं पार्यते (इति) भुवि विश्वनुता
शारदा वदति तत्र विशारदाः गणधराः अपि (वदन्ति)।

हे ! शुद्ध ! बुद्ध ! मुनिपालक ! बोधधारी !
है कौन सक्षम कहे महिमा तुम्हारी?
ऐसा स्वयं कह रही तुम भारती है,
शास्त्रज्ञ पूज्य गणनायक भी व्रती हैं।।९।।

अर्थ – हे बुद्ध ! हे मनुरूप ! हे मुनिपालक–मुनिश्रेष्ठ ! हे आर्य ! हे पूज्य ! निश्चय से आपकी महिमा किसके द्वारा कही जा सकती है? अर्थात् किसी के द्वारा नहीं। पृथिवी पर सब के द्वारा स्तुत सरस्वती ऐसा कहती है और स्तुतिविद्या में निपुण गणधर भी ऐसा ही कहते हैं।।९।।

निजनिधेर्निलयेन सताऽतनो-, र्मतिमता वमता ममता तनोः।
कनकता फलतो ह्युदिता तनौ, यदसि, मोहतमः सविताऽतनो !।।

हे अतनो ! अतनोः निजनिधेः निलयेन मतिमता सता तनोः ममता वमता।
फलतः तनौ कनकता हि उदिता। यत् (यस्मात्) मोहतमः सविता असि।

है आपने स्वतन की ममता मिटादी,
सच्चेतना सहज से निज में बिठादी।
लो ! देह में इसलिये कनकाभ जागी,
मोहान्धकार विघटा, निज ज्योति जागी।।१०।।

अर्थ – हे अतनो ! हे अशरीर ! यतश्च आप विशाल आत्मसम्पदा के आधार हैं, यतश्च स्वपरभेदविज्ञानी होकर आपने शरीर सम्बन्धी ममताओं को दूर किया है और यतश्च आपके शरीर में सुवर्ण जैसी आभा प्रकट हुई है अतः आप मोहरूपी तिमिर को नष्ट करने के लिये सूर्यतुल्य हैं।।१०।।

जिनपदौ शरणौ त्वपि कौ कलौ, कमलकोमलकौ विमलौ कलौ।
जनजलोद्भवरात्र्यहितौ हितौ, मयि मयाद्य हितौ महितौ हि तौ।।

हे (जिन !) तौ जनजलोद्भव–रात्र्यहितौ विमलौ कलौ कमलकोमलकौ मया
महितौ हि मयि हितौ अद्य अपि कौ कलौ जिनपदौ शरणौ (इति आनन्दसूचिका)।

श्रीपाद ये कमल-कोमल लोक में हैं,
ये ही यहाँ शरण पंचम काल में हैं।
है भव्य कंज खिलता, इन दर्श पाता,
पूजूँ अतः हृदय में इन को बिठाता।।११।।

अर्थ – हे जिन ! जो भव्यजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिये सूर्य स्वरूप हैं, कमल के समान कोमल हैं, निर्मल हैं, मनोहर हैं, हितकारी हैं और मेरे द्वारा पूजित होकर अपने हृदय में विराजमान किये गये हैं, ऐसे जिनेन्द्रचरण ही पंचमकाल में पृथिवी पर परमार्थ से शरणभूत है – रक्षक हैं।।११।।

सुरसयोगमितं यदयोगतं, कनकतां शिवमेष अयोगतः।
इति भवान् क्व रसः क्व मनो चिता, तदुपमा सहसा सह नोचिता।।

मनः ! सुरसायोगम् इतम् यत् अयः कनकताम् गतम् ! एषः (स्तुतिकर्त्ता तु) अयोगतः शिवम् (गतः) ततः भवान् क्व रसः क्व इति (मत्त्वा) चिता सह (भवतारह) तदुपमा सहसा न उंचिता।

लोहा बने कनक पारस संग पाके,
मैं शुद्ध किन्तु तमसा तुम संग पाके।
वो तो रहा जड़, रहे तुम चेतना हो,
कैसा तुम्हें जड़ तुला पर तोलना हो?।।१२।।

अर्थ – यतश्च लोहा समीचीन रसायन का संयोग पाकर सुवर्णता को प्राप्त हो गया परन्तु यह स्तुतिकर्त्ता आपके प्रभाव से रसायन के सम्बन्ध के बिना ही (पक्ष में – योगरहित अवस्था रो) शिव कल्याणरूपता स्वर्णरूपता (पक्ष में मोक्ष) को प्राप्त हो गया। इस तरह आप कहां? और रसायन कहाँ? दोनों में बड़ा अन्तर है। आप चैतन्यरूप हैं और रसायन जडरूप है। अतः चैतन्यरूप के साथ अचेतन रस की उपमा बिना विचार किये देना उचित नहीं।।१२।।

जिनगतस्त्वयि योऽपि मुदालयं, स्वमयते सह स स्वविदालयम्।
गुणकुलैरतुलैर्ननु संकुलम्, कलकलं विकलय्य भृशं कुलम्।।

हे अयि जिन ! त्वयि यो मुदा लयम् गतः ननु स स्वविदा सह कुलम् भृशम् विकलय्य अतुलैः गुणकुलैः संकुलम् कलकलम् स्वम् आलयम् अयते।

आनन्द भव्य तुम में लवलीन होता
पाता स्वधाम सुख का, गुणधाम होता।
औ देह त्याग कर आत्मिक वीर्य पाता,
संसार में फिर कभी नहिं लौट आता।।१३।।

अर्थ – हे जिन ! जो भी पुरुष हर्ष से आप में लीनता को प्राप्त होता है वह आत्मज्ञान के साथ शरीर को अत्यन्त पृथक् कर अनुपम गुणसमूहों से व्याप्त एवं मनोहर कलाओं से युक्त स्वकीय गृह को प्राप्त होता है।।१३।।

असितकोटिमिता अमिताः तके, नहि कचा अभिलास्तव तात ! के।
वरतपोऽनलतो बहिरागता, सघनधूम्रमिषेण हि रागता।।

हे तात ! तव के (मस्तके) तके (ते एव तके) अमिताः असितकोटिम् इताः अलिभाः कचाः नहि (सन्ति) (किन्तु) वरतपोऽनलतः सघनधूम्रमिषेण रागता हि बहिःआगता (इति मन्ये)!

काले घने भ्रमर से शिर में तुम्हारे,
ये केश हैं नहि विभो ! जिन देव प्यारे।
ध्यानाग्नि से स्वयम को तुमने जलाया,
लो ! सान्ध धूम्र मिस बाहर राग आया।।१४।।

अर्थ – हे पूज्य ! आपके शिर पर वे अपरिमित काले केश नहीं है किन्तु उत्कृष्ट ध्यानरूप अग्नि से उठे हुए धूम के बहाने भीतर की रागपरिणति बाहर आयी है।।१४।।

अयशसां रजसां वपुषाकरः, तव जितो महसा स निशाकरः।
जिन!रतोऽत्र ततोऽप्यमहानये, नखमिषेण पदे ह्यघहानये।।

अये ! जिन ! अयशसां रजसां वपुषा आकरः स निशाकरः तव महसा जितः ततः (स) अमहान् (तव) पदे अत्र नखमिषेण हि अघहानये रतः।

लो ! आपके सुभग-सौम्य-शरीर द्वारा
दोषी शशी अयशधाम नितान्त हारा।
वो आपके चरण की नख के बहाने,
सेवा तभी कर रहा यश कान्ति पाने।।१५।।

अर्थ – हे जिनदेव ! वह चन्द्रमा, जो कि शरीर के द्वारा अपयशरूपी मलिन धूलि की खान हो रहा है, आपके तेज से पराजित हो अमहान् – तुच्छ बन गया, इसीलिये वह इस जगत् में पापों को नष्ट करने के लिये नखों के बहाने (सपरिवार) आपके चरणों में आ पड़ा है।।१५।।

विधिनिशा किल संव्रियतेऽनया, कवितया विभयाभय तेऽनया।
किमुदितेऽप्यरुणे ह्यरुणे यते !, स्थितिरितिं तमसो न मुनेऽयते।।

हे मुने ! अभय ! यते ! ते अनया कवितया विभया किल अनया विधिनिशा संव्रियते (उचितमेव) अरुणे अपि अरुणे उदिते हि तमसः स्थितिः इतिम् किं न अयते (अवश्यमेवेति)।

लो आपकी सुखकरी कविता विभा से,
मोहान्धकार मिटता अविलम्बता से।
ज्योतिर्मयी अरुण है जब जाग जाता,
कैसे कहूँ कि तम है कब भाग जाता ?।।१६।।

अर्थ – हे मनु ! हे निर्भय ! हे यते ! आपकी इस कवितारूपी विभा–प्रभा रो अनय – नयरहिता दुष्कर्म रूपी रात्रि संवृत हो जाती है--समाप्त हो जाती है, यह उचित ही है क्योंकि प्रातःकाल की लाल–लाली के प्रकट होने पर क्या अन्धकार की स्थिति विनाश को प्राप्त नहीं होती? अवश्य होती है।।१६।।

असुषमां सुषमाममितां मनोः, ममपिबत् तृषितं हि मितान्मनो।
स्वररससेवनमेव वरं भवे, - दिति समीक्ष्य जगाद विभुर्भवे।।

(हे जिन !) मनोः अमितां असुषमां सुषमां मम मनः पिबत् (अपि) हि मितात् तृषितम्।
इति समीक्ष्य विभुः भवे स्वररससेवनं एव वरम् भवेत् इति जगाद।

सौंदर्य पान कर भी मुख का तुम्हारे,
प्यासा रहा मन तभी, तुम यों पुकारे।
पीयूष पी निज, तृषा यदि है बुझाना,
बेटा ! तुझे सहज शाश्वत शांति पाना।।१७।।

अर्थ – हे जिन ! मनुस्वरूप आपकी लोकोत्तर–सर्वश्रेष्ठ एवं अपरिमित शोभा का पान करता हुआ भी मेरा मन सीमित होने के कारण तृषित–प्यासा–असंतुष्ट रहा है। अर्थात् बाह्य शोभा को देखकर मन संतुष्ट नहीं होता। ऐसा विचार कर आपने कहा कि जगत् में आत्मरस–स्वस्वभाव की आराधना करना ही श्रेष्ठ है।।१७।।

त्वदधरस्मितवीचिसुलीलया, विदितमेव सतां सह लीलया।
त्वयि मुदम्बुनिधिर्हि नटायते, अहमिति प्रणतोऽप्यपटायते।।

(हे विभो!) त्वयि मुदम्बुनिधिः हि नटायते। (यतः) त्वदधरस्मितवीचि सुलीलया सतां सह लीलया विदितम् एव (अतः) ते अपटाय अहम् अपि प्रणतः (अस्मि) इति।

मूँगे समा अधर पे स्मित सौम्य रेखा,
है प्रेम से कह रही मुझ को सुरेखा।
आनन्द वार्धि तुम में लहरा रहा है,
पूजूँ तुम्हें, बन दिगम्बर, भा रहा है।।१८।।

अर्थ – हे भगवन् ! आपके अधरोष्ठ सम्बन्धी मन्द मुस्कानों की सुन्दर लीला से ही सत्पुरुषों को यह अनायास विदित हो गया है कि आप में आनन्द का सागर लहरा रहा है इसलिये मैं भी निर्ग्रन्थमुद्रा का धारक आपके लिये प्रणत हूँ – नमस्कार करता हूँ।।१८।।

सति तिरस्कृतभास्करलोहिते, महसि ते जिन ! विःसकलो हिते।
अणुरिवात्र विभो ! किमु देव ! न ! वियति भं प्रतिभाति तदेव न।।

हे जिन ! देव ! विभो ! न ! ते अत्र तिरस्कृतभास्करलोहिते, हिते सति, महसि सकलः विः अणुः इव प्रतिभाति भं तदेव वियति (अणुः इव) किमु न प्रतिभाति?)।

नक्षत्र है गगन के इक कोन में ज्यों,
आकाश है दिख रहा तुम बोध में त्यों।
ऐसी अलौकिक विभा तुम ज्ञान की है,
मन्दातिमन्द पड़ती द्युति भानु की है।।१६।।

अर्थ – हे जिनदेव ! हे विभो ! हे पूज्य ! इस पृथिवी पर सूर्य के प्रकाश को तिरस्कृत करने वाले आपके केवलज्ञानरूप तेज में सम्पूर्ण आकाश अणु के समान प्रतिभासित होता है। ठीक ही है क्योंकि अनन्त आकाश में एक नक्षत्र क्या अणु के समान नहीं जान पड़ता?।।१६।।

त्वयि जगद् युगपन्मुनिरंजने, लयमुपैति भवं च निरंजने।
परममानसुमेयतया तया, सरसिवीचिवदेव न वार्तया।।

(गुरो !) त्वयि मुनिरंजने निरंजने जगत् युगपत् लयं भव च (ध्रुवतां च)
तया परममानसुमेयतया उपैति। न वार्तया सरसि वीचिवत् एव।

है एक साथ तुममें यह विश्व सारा,
उत्पन्न हो मिट रहा ध्रुव भाव धारा।
कल्लोल के सम सरोवर में न स्वामी!
पै ज्ञेय ज्ञायकतया, शिवपंथगामी।।२०।।

अर्थ – मुनिजनों को आनन्द देने वाले तथा कर्मकालिमा से रहित आप में यह जगत् एक ही साथ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को उस प्रकार प्राप्त हो रहा है जिस प्रकार कि सरोवर की तरङ्ग। जगत् प्रसिद्ध ज्ञेयज्ञायकभाव की अपेक्षा यह सब यथार्थ में हो रहा है, कहने मात्र की अपेक्षा नहीं।।२०।।

सुखमजं न भजन्नपि दीदिवि,- र्भजति तावदहोऽतनुधीर्दिवि।
मुनिरयं तनुधीरपि रागत,- स्त्वयि च यावदके गतरागतः।।

(हे जिन !) दिवि अतनुधीः दीदिविः अजं (त्वाम) भजन् अपि अहो तावत् सुखम् न भजते।
त्वयि रागतः तनुधीः अपि अयम् मुनिः (ग्रन्थकर्ता) अके गतरागतः च यावत ! (सुखम्) भजति।

मैं रागत्याग तुझमें अनुराग लाके,
होता सुखी कि जितना लघु ज्ञान पाके।
तेरी बृहस्पति सुभक्ति करें, तथापि,
हो स्वर्ग में नहिं सुखी उतना कदापि ।।२१।।

अर्थ--हे जिनेन्द्र ! स्वर्ग में आपकी आराधना करने वाला विशाल बुद्धि का धारक बृहस्पति उतने सुख को प्राप्त नहीं होता, जितने सुख को पर वस्तुओं में राग रहित मुनि अल्पबुद्धि होकर भी आप में राग होने तथा अक–अनात्म पदार्थ में रागरहित होने से प्राप्त होता है।।२१।।

स्पृशति ते वदनं च मनोहरं, तव समं मम भाति मनो हर !
समुपयोग पयो ह्यपयोग तन्ननु भवेन्न पयोऽपि पयोगतम्।।

हे अपयोग ! समुपयोग ! हर ! ते मनोहरं वदनं च मम मनः (यदा) स्पृशति (तदा) तव समम् हि भाति ! तत ! पयोगतम् पयः अपिः पयः ननु न भवते (भवेदित्यर्थः)।

ज्यों ही मदीय मन है तव स्पर्श पाता,
त्यों ही त्वदीय सम भासुर हो सुहाता।
रागी विराग बनता तव संघ में हैं।
लो ! नीर, दूध बनता गिर दूध में है।।२२।।

अर्थ–हे अपयोग ! मन, वचन और काय की प्रवृत्ति से रहित ! हे समुपयोग ! ज्ञानदर्शन रूप समीचीन उपयोगों से सहित, हे हर ! हे जिनेन्द्र ! जब मेरा मन आपके मनोहर वदन–मुख का स्पर्श करता है–आपके वैराग्यपूर्ण मुखमुद्रा का ध्यान करता है तब वह आपके समान वैराग्यपूर्ण हो जाता है। ठीक ही है क्योंकि दूध में मिला हुआ पानी क्या दूध या दूध के समान नहीं हो जाता ? अवश्य हो जाता है।।२२।।

असि शशी सितशीतसुधाकरैः, स्वगतशुद्धगुणैश्च सदा करैः।
यदि न दृक्सलिलं सममावि भो ! मम मनोमणितो न झरेद्विभो ! ।।

भो ! विभो ! (त्वम्) सितशीतसुधाकरैः स्वगतशुद्धगुणैः करैः च सदा शाशी असि ।
यदि न (असि तर्हि) मम मनोभणितः सममावि दृक्सलिलं न झरेत्।

मानूँ तुम्हें तुम शशी तम में भरी हैं,
सच्ची सुधा गुणमयी मन को हरी है।
ऐसा न हो, मम मनोमणि से भला यों,
सम्यक्त्वरूप झरना, झर है रहा क्यों ?।।२३।।

अर्थ–हे विभो ! आप उज्ज्वल–शान्तिदायी सुधा के खान स्वकीय शुद्धगुणरूप किरणों से सदा चंद्रमारूप है। यदि ऐसा नहीं है तो मेरे मनरूपी चंद्रकान्तमणि से तत्काल सम्यग्दर्शनरूप जल न झरता।

विमदवञ्चितविश्वमकं पते ! सुमन एति न भूभृदकंप ! ते।
निजपदं ह्यय एव विभावत-,स्त्यजति नो कनकं भुवि भावतः।।

हे पते ! भूभृदकंप ! ते सुमनः अकम् न एति। विमदवंचितविश्वम् तु (एति) (उचितमेव) अयः एव विभावतः निजपदम् त्यजति(किन्तु) भुवि कनकं (निजपदम्) नो (त्यजति)।

सम्मोह से भ्रमित हो जग पाप पाता,
पै आपका मन नहीं अघ ताप पाता।
लोहा स्वभाव तजता जब जंग खाता,
हो पंक में कनक पै सब को सुहाता।।२४।।

अर्थ– हे पर्वत के समान अकम्प रहने वाले प्रभो ! आपका प्रशरत हृदय अक–पाप को नहीं प्राप्त होता किन्तु विविध प्रकार के मदों से प्रसारित जगत् अक को प्राप्त होता है। यह उचित ही है क्योंकि पृथ्वी पर विरुद्ध परिणमन के कारण लोहा ही अपने स्वभाव को छोड़ता है, स्वर्ण नहीं।

असि शुचिश्च शशीव सुकेवली, गमित इत्यपि नो कुधियाऽबली।
असित एव शशी कुदृशा सितः, सदय ! यद्यपि यः सुदृशा शितः।।

सदय ! शशी इव शुचिः सुकेवली च असि (तथापि) कुधिया अपि नो इति गमितः (किन्तु) अबली (गमितः) यद्यपि यः शशी सुदृशा शितः (ज्ञातः) (तथापि) कुदृशा असितः एव सितः।

हो केवली तुम बली शुचि शान्त शाला,
ऐसा तुम्हें कब लखें अघ दृष्टि वाला।
हो पीलिया नयन रोग जिसे हमेशा,
पीला शशी नियम से दिखता जिनेशा !।।२५।।

अर्थ–हे कृपालु जिनेन्द्र ! यद्यपि आप चन्द्रमा के समान उज्ज्वल और उत्तम केवलज्ञान से युक्त हैं तथापि कुबुद्धिजन आपको वैसा नहीं मानते। वह आपको अबली–बलहीन मानते है। उचित ही है, क्योंकि विकृत नेत्रवाला–पीलिया रोगवाला मनुष्य चन्द्रमा को असित–पीला जानता है, परन्तु निर्विकार नेत्रवाला मनुष्य चन्द्रमा को सित–शुक्ल ही जानता है।।२५।।

मतिरियं भवता मयि भाविता, रुचिमतो भवतीह विभाविता।
जगदिदं क्षणिकं नहि रोचते, गुरुमुखं प्रविहाय गुरो ! च ते।।

हे गुरो ! मयि इयं मतिःभवता अतः इह भवति विभौ च रुचिम् (सा) इता (अतः)
ते गुरुमुखम् प्रविहाय इदम् क्षणिकम् जगत् च नहि रोचते।

ऐसी कृपा यह हुई मुझपे तुम्हारी,
आस्था जगी कि तुममें मम निर्विकारी।
संसार भोग फलतः रुचते नहीं हैं,
प्रत्यक्ष मात्र तुम हो जड़ गौण ही है।।२६।।

अर्थ–हे गुरुदेव ! मुझमें विद्यमान यह बुद्धि यतश्च आपके द्वारा सुसंस्कारित है अतः इस जगत् में एक आप में ही श्रद्धा को प्राप्त हुई है। अब मुझे आपके श्रेष्ठतमगुरुख को छोड़कर यह नश्वर संसार अच्छा नहीं लगता।।२६।।

सति हृदि त्वयि मेऽत्र विरागता, समुदिता गुणतामितरा गता।
पयसि चेत् सुमणौ न पयोऽङ्ग ! त,-दरुणतां किमु याति नियोगतः।।

हे विभो ! अत्र मे हृदि त्वयि सति विरागता समुदिता इतरा (रागता) गुणतां (इता) गता।
चेत् सुमणौ पयसि (तदा) तत् पयः अरुणताम् किमु नियोगतः न याति(यात्येव)।

स्वामी ! निवास करते मुझमें सुजागा,
आत्मानुराग फलतः पर राग भागा।
लो दूध में जब कि माणिक ही गिरेगा,
क्या लाल लाल तब दूध नहीं बनेगा?।।२७।।

अर्थ–मेरे इस हृदय में आपके विद्यमान रहते हुये विरागता–वीतरागता प्रकट रहती है इससे भिन्न रारागता–अप्रधानता को प्राप्त हो नष्ट हो जाती है। ठीक ही है, यदि दूध में पद्मरागमणि रहता है तो वह दूध क्या नियम से लालिमा को प्राप्त नहीं हो जाता? अवश्य हो जाता है।।२७।।

विगतरागतया स्वमहिंसया, शिवमितोऽसि जगन्नहि हिंसया।
उचितमेव सदोचितसाधनं, भुवि ददाति शुभं सहसा धनम्।।

हे जिन ! विगतरागतया अहिंसया शिवम ! स्वम् इतः असि। हिंसया तु जगत् (नहि)
(शिवम् इतम्) उचितमेव सदा भुवि उचितसाधनम् शुभ धनं सहसा ददाति।।

वैराग्य से तुम सुखी भज के अहिंसा,
होता दुखी जगत है कर राग हिंसा।
सत् साधना सहज साध्य सदा दिलाती,
दुःसाधना दुखमयी विष ही पिलाती।।२८।।

अर्थ–हे भगवन् ! आप वीतरागतारूप अहिंसा से शिव–मोक्ष अथवा सुख को प्राप्त हुए हैं इसके विपरीत सरागता रूप हिंसा से जगत् शिव–मोक्ष अथवा सुख को प्राप्त नहीं हो रहा है। यह उचित ही है कि पृथ्वी पर योग्य साधन ही सदा इष्ट धन को शीघ्र देता है, अयोग्य साधन नहीं। ।।२८।।

अनुदिनं त्वयि यो रमतेऽञ्जसा, भवित ते स समः समतेजसा।
वपुरदोऽपि जडं परमं। भवेन्ननु तदा चिदियं न भवेद् भवे।।

हे भगवन ! त्वयि यः अनुदिनं रमते स अंजसा समतेजसा (साकं) ते समः भवति।
भवे अदः जडं अपि वपुः परमं। भवेत् (तदा) इयं चित्ननु न भवेत् (भवेदित्यर्थः)।

श्रद्धा समेत तुम में रममान होता,
वो ओज तेज तुम सा स्वयमेव ढोता।
काया हि कंचन बने कि अचेतना हो,
आश्चर्य क्या ? द्युतिमयी यदि चेतना हो।।२९।।

अर्थ–हे भगवन् ! जो मनुष्य प्रतिदिन आप में रमण करता है– आपके ध्यान में लीन रहता है वह अनन्तचतुष्टरूप लक्ष्मी से युक्त तेज से आपके समान हो जाता है। उचित ही है, कि जब वह अचेतन शरीर भी आपके सम्पर्क से परम–श्रेष्ठ परमौदारिक बन जाता है तब यह ज्ञानदर्शन सम्पन्न जीव क्या आपके समान नहीं हो सकेगा? अवश्य हो सकेगा।।२९।।

गुणगणैर्गुरुभिश्च समानतः, स्वचितये समगोऽसि समानतः।
सनिजमात्र इवावनये नगः, कुसुमपत्रफलैश्च नयेऽनघः।।

नये अनघः स नगः अवनये निजमात्रे कुसुमपत्रलैः च समानतः इव हे !
देव ! स्वचितये गुरुभिः गुणगणैः समानतः असि। समानतः (हेतौ) समगः(असि)।

जैसा कि वृक्ष फल फूल लदा सुहाता,
माथा, धरा जननि के पद में झुकाता।
ऐसे लगे कि गुण भार लिए हुए हो,
चैतन्यरूप-जननी पद में झुके हो।।३०।।

अर्थ–हे भगवन् ! जिस प्रकार नीति का निर्दोष पालन करने वाला वृक्ष पुष्प, पत्र और फलों से विनत हो अपनी जननी तुल्य पृथिवी के लिए प्रणाम करता है। उसी प्रकार बहुत भारी गुणसमूह से संगत आप गुणसमूह को उत्पन्न करने वाली स्वकीय चेतना को प्रणाम करते से जान पड़ते हैं।।३०।।

नहि रुचिस्तव तां प्रति कांचनप्रकृतभूतिमितोऽपि च काचन।
गणधरैःशमिनस्तव गीयते, न गरिमा ममका तनुगीर्यते !।।

हे यते ! कांचन प्रकृत भूतिम् इतः अपि तव ताम् प्रति काचन रुचिः नहि (अस्ति)।
तव शमिनः गरिमा गणधरैः (अपि) न गीयते (तदा) मम तनुगीः का।

छत्रादि स्वर्णमय वैभव पा लिए हो,
स्वामी ! न किन्तु उनसे चिपके हुए हो।
तेरी अपूर्व गरिमा गणनायकों से,
जाती कही न फिर क्या ? हम बालकों से।।३१।।

अर्थ– हे मुनीन्द्र ! स्वर्णनिर्मित छत्रत्रयादि वैभव को प्राप्त होने पर भी आपकी उस ओर रुचि–प्रीति नहीं है तथा अत्यन्त शान्त रहने वाले आपकी गरिमा–महिमा गणधरों द्वारा भी जब नहीं गायी जाती है तब मेरी अल्पवाणी क्या है? कुछ नहीं।।३१।

विशदविद्वनिता त्वयि तेऽज ! सा, समनुभाति सदाव्ययतेजसा।
शशिनि शीत करैर्निशि वामतः, शशिकलैवमलं व्ययवामतः।।

हे अज ! ते सा विशदविद्वनिता त्वयि सदा अव्ययतेजसा समनुभाति।
(किन्तु) शशिनि शीतकरैः निशि वामतः व्ययवामतः शशिकला एवं अलम् ?

विज्ञानरूप रमणी तुममें शिवाली,
जैसी लसी अमित अव्यय कांतिवाली।
वैसी नहीं शशिकला शशि में, निराली,
अत्यन्त चूँकि कुटिला व्यय-शील-वाली।।३२।।

अर्थ– हे अज ! जन्मातीत जिनेन्द्र ! आपकी वह प्रसिद्ध केवल ज्ञानरूपी रमणी आप में अपने अविनाशी तेज से सदा सुशोभित रहती है। परन्तु रात्रि के समय शीत रश्मियों से उपलक्षित चन्द्रमा में चन्द्रकला ऐसी नहीं है, क्योंकि वह वाम–मेघ से आच्छादित हो जाती है और भङ्गुर–नश्वर होने से वाम–कुटिलरूप भी है।।३२।।

मुदमुपैमि मुनिर्मुनिभावतो, मुखमुदीक्ष्य विभो ! सुविभावतः।
जलभृतं जलदं जलदाध्वनि किल शिखीव गतं सुगुरुध्वनिम्।।

हे गुरों ! विभो ! जलदाध्वनि सुगुरुध्वनिम् गतम् जलभृतम् किल शिखी
इव उदीक्ष्य सुविभावतः मुखम् (अहम् !) मुनिः मुनिभावतः (उदीक्ष्य) मुदम् उपैमि।

देखा विभामय विभो मुख आपका है,
ऐसा मुझे सुख मिला नहिं नाप का है।
जैसा यहाँ गरजता लख मेघ को है,
पाता मयूर सुख भूलत खेद को है।।३३।।

अर्थ–हे विभो ! आकाश में गरजते जलभरे मेघ को देखकर जिस प्रकार मयूर प्रमोद को प्राप्त होता है उसी प्रकार स्तुति करने वाला मैं, मुनि जैसे पवित्रभाव से उत्तमदीप्ति से युक्त आपका मुख देखकर प्रमोद को प्राप्त हो रहा हूँ।।३३।।

विभुरसीह सताम् जिनसंगतः, पृथगसीश सुखीति च संगतः।
ननु तथापि मुनिस्तव संगतः, सुखमहं स्मय एष हि संगतः।।

हे ईश ! जिन ! इह संगतः (सर्वगतत्वात्) सताम् विभुः असि। संगतः पृथक् इति सुखी असि च। तथापि एषः स्मयः हि अहम् ! मुनिः तव संगतः ननु सुखम ! संगतः।

सर्वज्ञ हो इसलिए विभु हो कहाते,
निस्संग हो इसलिये सुख चैन पाते।
मैं सर्वसंग तजके तुम संग से हूँ,
आश्चर्य आत्म सुख लीन अनंग से हूँ।।३४।।

अर्थ– हे ईश ! हे जिन ! इस जगत् में ज्ञान की अपेक्षा लोकालोक में व्याप्त होने से आप सत्पुरुषों के स्वामी हैं। संगतः परिग्रह अथवा परजनसंपर्क से पृथक् हैं। अतः सुखी हैं। यद्यपि संग से पृथक् होने के कारण आप सुखी हैं, तथापि आपके संग से मैं मुनि आत्मसुख को प्राप्त हुआ हूँ। यह आश्चर्य हैं।।३४।।

लसति भानुरयं जिनदास ! खे, नयति तापमिदं च सदा सखे !
जितरविर्महसा सुखहेतुकम्, उरसि मेऽस्ति तथात्र न हेतुकम्।।

हे सखे ! जिन दास ! खे अयं भानुःलसति सदा तापम् इदम् (जगति च) नयति। (किन्तु) अत्र मे उरसि महसाजितरविः सुखहेतुकं अस्ति। तथा तुकम् (मां बालम्) (तापम्)न नयति।

आकाश में उदित हो रवि विश्वतापी,
संतप्त त्रस्त करता जग को प्रतापी।
पै आप कोटि रवि तेज स्वभाव पाये,
बैठे मदीय उर में न मुझे जलाये।।३५।।

अर्थ–हे मित्र ! हे जिनसेवक ! आकाश में जो यह सूर्य सुशोभित हो रहा है वह इस जगत् को संताप प्राप्त कराता है। परन्तु तेज से सूर्य को जीतने वाले जिनेन्द्र, सुख के हेतु हो मेरे इस हृदय में विद्यमान हैं फिर भी सूर्यसादृश आप मुझ बालक को संताप नहीं करते।

सुरनगः सुरगौः सुरवैभवं, सुरपुरे वितनोति च वै भवम्।
भवविमुक्तिसुखं फलमेव च, स्तवनतस्तव साध्विति मे वचः।।

हे ईश ! सुरपुरे सुरनगः सुरगौः च सुरवैभवम् वै भवम् च वितनोति।
(किन्तु) तव स्तवनतः भवविमुक्तिसुखम् फलम् एव इति मे साधु वचः।

वे कामधेनु सुरपादप स्वर्ग में ही,
सीमा लिए दुख घुले सुख दें, विदेही !
पै आपका स्तवन शाश्वत मोक्ष-दाता,
ऐसा वसन्ततिलका यह छन्द गाता।।३६।।

अर्थ–हे भगवन् ! स्वर्ग में जो कल्पवृक्ष, कामधेनु और देवों का ऐश्वर्य है वह निश्चय से संसार को विस्तृत करता है। परन्तु आपके स्तवन से मुक्तिसुखरूपी फल ही प्राप्त होता है, ऐसा मेरा कहना है।।३६।।

सरसि ते स्तवने मम साधुता, शुचिमिता स्नपिता सहसा धुता।
भुवि विभो ! यदिदं मम चेतनं, स्तवनभाग्घि सतां द्युतिकेतनम्।।

हे विभो ! ते स्तवने सरसि मम साधुता शुचिम् इता स्नपिता सहसा धुता (च)
भुवि यत् (यस्मात्) इदम् मम चेतनम् द्युतिकेतनम् सताम् स्तवनभाक् हि (भूतं)।

जो आपकी स्तुति सरोवर में धुली है,
मेरी खरी श्रमणता शुचि हो धुली है।
तो साधु स्तुत्य मम क्यों न सुचेतना हो ?
औ शीघ्र क्यों न कल-केवल-केतना हो?।।३७।।

अर्थ–हे प्रभो ! आपके स्तवनरूप सरोवर में मेरी श्रमणता–मेरी साधुवृत्ति पवित्रता को प्राप्त है, नहलायी गई है और शीघ्र ही धुल चुकी है–उज्ज्वल हो चुकी है। यतश्च मेरा यह चैतान्यभाव केवलज्ञानरूप ज्योति का घर है, अतः निश्चय से सत्पुरुषों के स्तवन को प्राप्त हुआ है।

असि सदात्मनि वेति मुनीरतः, परमशीतलको हिमनीरतः।
अनलतो निजतां प्रविहायतद्दहति नाज विधेर्विधिहा यतः।।

हे अज ! (त्वम्) सदा आत्मनि रतः असि वा (निश्चयेन) इति मुनिः (असि) हिमनीरतः परम शीतलकः (असि) तत् (नीरम्)अनलतः निजतां प्रविहाय दहति (किन्तु त्वं) यतः विधिहा विधेः (कर्मणः) न दहसि।

तल्लीन नित्य निज में तुम हो खुशी से,
नीरादि से परम शीतल हो इसी से।
पा अग्नि योग जल है जलता जलाता,
कर्माग्नि से तुम नहीं यह साधु गाथा।।३८।।

अर्थ– हे अज ! हे जन्मातीतजिनेन्द्र ! आप सदा आत्मस्वरूप में रत–लीन हो अथवा निश्चय से मुनि हो। बर्फ के पानी से अत्यधिक शीतल हो। वह पानी अग्नि से स्वरूप को– निजीशीतलता को छोड़कर जलाने लगता है, परन्तु आप विधिहा–कर्म को नष्ट करने वाले होने से कर्म से जलते–जलाते नहीं हो।

सुरमणी प्रथमा प्रगुणावलिः, तव परा च शुचिः सुगुणावलिः।
विरमतीव रतिश्च सति त्वयि, त्रिभुवनप्रगताऽपि सती त्वयि !।।

अये देव ! तव प्रथमा प्रगुणावलिः सुरमणी परा च शुचिः सुगुणावलिः (किन्तु) त्वयि सति रतिः इव (प्रथमा) विरमति (परन्तु) त्रिभुवनप्रगता अपि सती (विरोधः)

लो आपकी रमणि एक गुणावली है,
दूजी सती विषदकीर्तिमयी भली है।
पै एक तो रम रही नित आप में है,
कैसा विरोध यह? एक दिगंत में है ।।३९।।

अर्थ–अये देव ! उत्तमगुणावली आपकी प्रथम सुभार्या है और उज्ज्वलकीर्ति द्वितीय सुभार्या है । इनमें प्रथम सुभार्या तो रति की तरह एक आप में ही विशेषरूप से रमती है, परन्तु द्वितीय सुभार्या त्रिभुवन में जा कर भी सती है। यह कैसा विरोध है?।।३९।।

परिचयात् तव यत्त्वयि मे मनो, विशति शामितवामवमे ! मनो !।
सुरनरै र्मुनिभि र्यशसामिते, नदपतौ नदवत् सहसाऽमिते।।

हे शामितवामवमे ! मनो ! तव परिचयात् सुरनरैः मुनिभिः यशसाम्
इते त्वयि मे यत् मनः सहसा अमिते नदपतौ नदवत् विशति।

देवाधिदेव मुनिवन्द्य कुकाम वैरी,
पाती प्रवेश तुम में मति हर्ष मेरी।
जैसी नदी अमित सागर में समाती,
होती सुखी मिलन से दुख भूल जाती।।४०।।

अर्थ–हे कामाग्नि को शान्त करने वाले भगवन् ! देव, मनुष्य और मुनियों के द्वारा यश को प्राप्त आप में, असीम समुद्र में नदी के समान जो मेरा मन प्रविष्ट हो रहा है वह आपके परिचय–सतत गुणचिंतन से हो रहा है।।४०।।

विकचकंजजयक्षमनेत्रकं, करुणकेसरकं भुवनेऽत्र कम्।
मम सुदृक् सततं सहसेव ते, सरसिजं भ्रमरोऽप्यनुसेवते।।

हे। भुवनेश्वर ! अत्र भुवने ते करुण–केसर–कं कं विकचकंजजयक्षम–
नेत्रकम् मम सुदृक् अपि सहसा सरसिजम् भ्रमरः इव अनुसेवते।

उत्फुल्ल नीरज खिले तुम नेत्र प्यारे,
हैं शोभते करुण केशर पूर्ण धारें।
मेरा वहीं पर अतः मन स्थान पाता,
जैसा सरोज पर जा अलि बैठ जाता।।४१।।

अर्थ–जिसके नेत्र प्रफुल्ल कमल को जीतने में समर्थ हैं तथा जिस पर वृक्ष की केसर के समान केशर सुशोभित है, ऐसे आपके मुख को इस जगत् में मेरी दृष्टि भी निरन्तर सहसा उस तरह सेवित करती है, जिस तरह भ्रमर कमल को सेवित करता है।

विषयसक्तखसामजकन्दरः, कुमदतापित विश्वककन्धरः।
विधिवनानलकोसि भयंकरो, भयवते जगते ह्यभयङ्करः।।

हे भगवन ! भयते जगते अभयङ्कर असि ! विषयसक्तखरागजकन्दरः असि
कुमदतापितविश्वककन्धरः (असि) भयङ्करः विधिवनलकः (असि)।

हैं आप दीनजनरक्षक, साधु माने,
दावा प्रचण्ड विधि कानन को जलाने।
पंचेंद्रि-मत्त-गज-अंकुश हैं सुहाते,
हैं मेघ विश्वमदताप-तृषा बुझाते।।४२।।

अर्थ– हे भगवान् ! आप विषयों में आसक्त इन्द्रियरूपी हाथियों के लिए अंकुश हैं। खोटे मदों से संतापित जगत् के लिए मेघ हैं। कर्मरूपवन को भस्म करने के लिए प्रचण्ड दावानल हैं और भयभीत जगत् के लिए अभय प्रदान करने वाले हैं।।४२।।

गतगतिः सगतिश्च सदागति, र्मम तपोऽनलदीप्तिसदागतिः।
भव भवोप्यभवो भवहानये, निजभवो गतमोहमहानये !।।

हे ! अये ! भगवान ! गतगतिः सगतिः सदागतिः च असि (अतः) मम तपोऽनलदीप्ति सदागतिः भव। गतमोहमहान् निजभवः भवः (अपि असि) (अतः) मम भवहानये अभवः अपि (भव)।

चारों गती मिट गयी तुम ईश ! शम्भू,
हो ज्ञान पूर निजगम्य अतः स्वयम्भू,
ध्यानाग्नि दीप्त मम हो तुम वात हो तो,
संसार नष्ट मम हो तुम हाथ हो तो।।४३।।

अर्थ--अये भगवान् ! आप नरकादि गतियों से रहित हो, ज्ञान से सहित हो, ईश्वर हो, मेरी तपरूपी अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए वायु हो, कल्याणरूप होकर भी कल्याणरहित (पक्ष में संसार से रहित) हो। अतः आप मेरे संसार को नष्ट करने के लिए हो, मोह के नष्ट हो जाने से आप महान् तथा स्वयंभू हो।।४३।।

अघततिः सघना प्रखरामिता, तव नुतेरितिमीश ! तरामिता।
वियति पूर्णतया ह्यपि वा ततः, स लय माशु घनोऽयति वाततः।।

हे ईश ! सघना प्रखरा अमिता अघततिः तव नुतेः तराम् इतिम् इता ! वियति पूर्णतया अपि ततः स घनः वाततः आशु लयं अयति ! वा (निश्चयेन)।

हो आपको नमन तो सघना अघाली,
पाती विनाश पल में दुख शील वाली।
फैला पयोद दल हो नभ में भले ही,
थोड़ा चले पवन तो बिखरे उड़े ही।।४४।।

अर्थ– हे ईश ! सघन, अतितीक्ष्ण तथा अपरिमित पापपङ्क्ति आपके स्तवन से नाश को प्राप्त हो गई है। जैसे कि आकाश में पूर्णरूप से विस्तृत मेघ भी वायु से शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है ।।४४।।

चरणयुग्ममिदं तव मानसः, सनखमौक्तिक एव विमानस !।
भृशमहं विचरामि हि हसंक ! यदिह तत्तटके मुनिहंसकः।।

हे हंसक ! हे विमानस ! तव इदम् चरणयुग्मम् सनख– मौक्तिकः मानसः एव (अस्ति)।
यत् (यस्मात्)तत्–तटके इह अहं मुनिहंसकःहिभृशं विचरामि।

श्री पाद मानस सरोवर आपका है,
होते सुशोभित जहाँ नख मौक्तिका हैं।
स्वामी ! तभी मनस हंस मदीय जाता,
प्रायः वहीं विचरता चुग मोति खाता।।४५।।

अर्थ–हे विमानस ! हे आत्मरूपहंस ! नखरूप मोतियों से सहित आपका यह चरण युगल ही मानसरोवर है। इसलिये तो उसके इस तट पर मैं मुनिरूपी हंस अत्यधिक विचरता हूँ।।४५।।

मतिरिता भवतो मम सा दरं, पदयुगे शरणे तव सादरम्।
स्वपिति मातुरसौ सुखधातरि, शिशुरिहाङ्क इवाभयदातरि।।

सुखधातरि अभयदातरि मातुः अङ्के अरौ शिशुः इव हे शरण्य ! भवतः दरम् इता सा मम मतिः तव शरणे पदयुगे सादरम् स्वपिति।

लो! आपके चरण में भवभीत मेरा,
विश्रान्त है अभय पा मन है अकेला।
माँ का उदारतम अंक अवश्य होता,
निःशंक हो शरण पा शिशु चूँकि सोता।।४६।।

अर्थ–हे शरण्य ! सुखधारक एवं अभयदायक माता की गोद में शिशु के समान मेरी बुद्धि संसार से भयभीत हो शरणभूत आपके चरणयुगल में आदर के साथ शयन कर रही है–लीन हो रही है।।४६।।

स्वकमयं ह्ययि नोऽलभमानतः, किमु सुखी विकलः किल मानतः।
उपगतोऽभयमेव च दुःखत, इह भवे सहितो भवदुःखतः।।

जिन प्रसंगे– अयि नः मनुज ! अयं (जिनः) किल मानतः विकलः किमु नो सुखी। दुःखतः अभयम् एव च उपगतः इव भवे भवदुःखतः अरहितः। (मम प्रसंगे) दुःखतः भयम् एव उपगतः इह भवे भव दुःखत सहितः मानतः (विज्ञानतः) विकलः स्वकम् अलभमानतः सन् किमु सुखी।

हो वर्धमान गतमान प्रमाणधारी,
क्यों ना सुखी तुम बनो जब निर्विकारी।
स्वात्मस्थ हो अभय हो मन अक्षजेता,
हो दुःख से बहुत दूर निजात्मवेत्ता।।४७।।

अर्थ--(जिनदेव के प्रसङ्ग मे) हे मेरे मानव ! यह जिनेन्द्रदेव मान–गर्व से रहित है, तो क्या सुखी नहीं है? दुःख से अभय को ही प्राप्त हुए के समान संसार में जन्म सम्बन्धी दुःख से क्या रहित नहीं है? (अपने प्रसङ्ग में) दुःख से भय को प्राप्त हुआ तब इस भव में जन्म सम्बन्धी दुःख से रहित है, मान--विज्ञान से रहित है फलस्वरूप आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं होता हुआ क्या सुखी है? अर्थात् नहीं है।।४७।।

[illegible] व्रतसंगतः, प्रसमयोऽपि मया जिन ! संगतः।
ननु [illegible] सदनं प्रविराजते, प्रवद दूरमितोऽप्यजराज ! ते।।

हे जिन ! अजराज ! व्रतसंगतः मया शिवपथे चरता प्रसमयः अपि संगतः (अतः)
ते सदनम् ननु इतिः कियत् दूरम् प्रविराजते प्रवद।

सन्मार्ग पे विचरता मुनि हो अकेला,
स्वामी ! हुआ बहुत काल व्यतीत मेरा।
मेरे थके पग अभी कितना विहारा,
बोलो कि दूर कितना तुम धाम प्यारा।।४८।।

अर्थ--हे जिन ! हे अजराज ! व्रतधारण कर मोक्षमार्ग में विचरते हुए मैंने अधिक समय व्यतीत किया है। अतः निश्चय से आप कहिये कि आपका वह सदन यहाँ से कितनी दूर सुशोभित हो रहा है।।४८।।

अमितभा सति भाति विभावतः, परमभानुरसीश ! विभावतः।
वद कथं यदि नोऽप्यमलोद्भवेन्मम तपोमणितोऽप्यनलो भवे।।

हे ईश ! अमल ! विभावतः (तव) अमितभा सति विभौ भाति भवे अतिः परमभानुःअसि।
यदि नो मम तपोमणितःअपि अनलः कथं उद्भवेत् (इति) तद ! ।।

स्वामी अपूर्व रवि हो द्युति धाम प्यारे,
ये तेज हीन रवि सम्मुख हो तुम्हारे,
मानों नहीं स्वयम को रवि हे विरागी !
क्यों अग्नि है मम तपो मणि में सुजागी ?।।४९।।

अर्थ–हे ईश ! हे अमल ! विभासम्पन्न आपकी अपरिमित प्रभा आप विभु के रहते हुए ही सुशोभित होती है। अतः इस जगत् में आप उत्कृष्ट सूर्य हैं। यदि ऐसा नही है, तो मेरी तपरूपी सूर्यकान्तमणि से अग्नि क्यों प्रकट होती है?।।४९।।